वेदार्थ का महान् पुनरुद्धारक

ऋषि दयानन्द

पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

1993

प्रकाशक

श्रीमती विमलादेवी बागडीया

श्रीमती सावित्रीदेवी बागडीया धर्मार्थ ट्रस्ट

170 जी. ब्लोक, न्यू अलीपुर,

कलकत्ता

✡ ओ३म् ✡

जिज्ञासु-रचना-मञ्जरी

[द्वितीय भाग]

(उपलब्ध समस्त लेखों का संग्रह)

श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जन्म-शताब्दी-वर्ष-समापन
के अवसर पर

सम्पादक—
पं० युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—

श्रीमती विमलादेवी बागड़िया
"श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया धर्मार्थ ट्रस्ट"
१७० जी० ब्लाक, न्यू अलीपुर,
कलकत्ता

प्रथम संस्करण—१०००
मूल्य—१००-००
भाद्रपद, संवत् २०५०
सितम्बर १९९३

मुद्रक—
रामकिशन सरोहा
सरोहा प्रिंटिंग प्रेस, बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा) १३१०२१

प्राप्ति-स्थान—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़—१३१०२१
(सोनीपत-हरयाणा)

पदवाक्यप्रमाणज्ञ

स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु
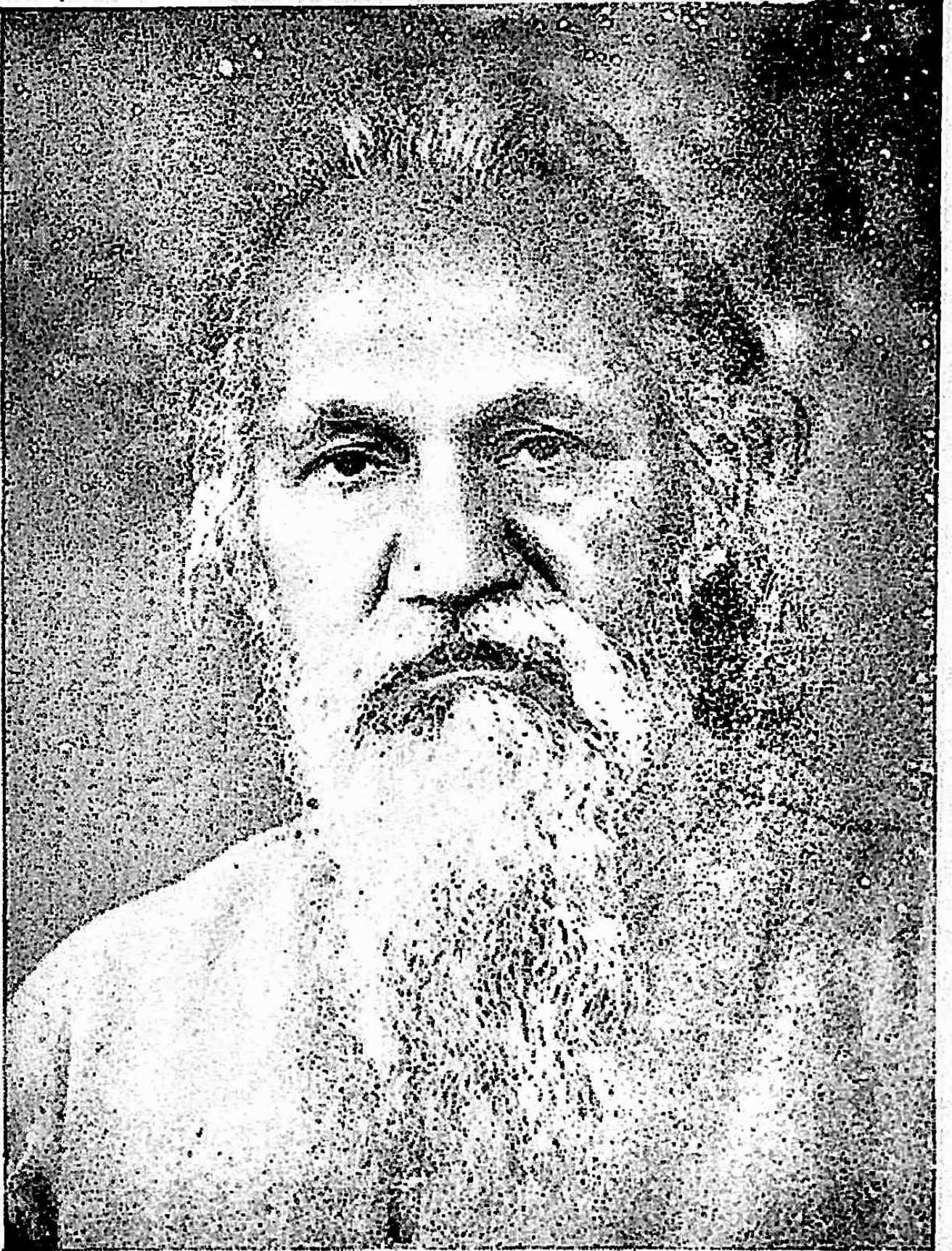
जन्म—१४ अक्तूबर १८९२ मृत्यु—२२ दिसम्बर १९६४

वेदार्थ का महान् पुनरुद्धारक ऋषि दयानन्द

वेदों में आस्था रखनेवाला, वेदों का अभ्यासी, उनका स्वाध्याय वा अनुशीलन करनेवाला, चाहे वह महाविद्वान् हो वा वेद का विद्यार्थी हो, भारतीय हो वा अभारतीय, वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानता हो या न मानता हो, वेद का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में मानता हो वा किसी समय में भी मानता हो, यह बात प्रत्येक व्यक्ति मानता है, वा प्रत्येक को माननी पड़ती है कि आज से लगभग १३०० वर्ष से पहिले का वेदों का अर्थ लुप्त है,कोई भी भाष्य इससे पहले का नहीं मिलता। सबसे पहिला वेदभाष्यकार सातवीं शताब्दी (संवत् ६८७) का आचार्य स्कन्द स्वामी है, जिसका ऋग्वेद पर भाष्य मिला है, जो अपूर्ण है। महाभारत से पहिले तथा पीछे भी स्कन्द स्वामी के समय तक वेदार्थ रहा अवश्य होगा। महाभारत से पूर्व वा पश्चात् के ऋषियों के जितने भी ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, वे प्राय: सभी वेदों के अर्थों के विषय में भिन्न-भिन्न रीति से निरूपण करते हैं, उन्हें हम वेद के भाष्य नहीं कह सकते। अधिक नहीं तो महाभारत से लेकर विक्रम की ६ शताब्दी तक अर्थात् लगभग ३५०० साढ़े तीन हजार वर्ष का वेदार्थ तो लुप्त ही कहा जायेगा। आर्य सनातन वैदिक धर्मी की दृष्टि से तो वेद की उत्पत्ति सृष्टि के आदि में हुई, तदनन्तर वेद का अर्थ प्रादुर्भूत हुआ। इस समय जो कुछ भी अधूरा वेदार्थ उपलब्ध हो रहा है, वह भी आज से १३०० वर्ष पूर्व तक का है। पहिले का वेदार्थ लुप्त है, यह बात सर्वसम्मत है।

वेदार्थ का संक्षिप्त इतिहास

वेदार्थ के नियमों के प्रतिपादक निरुक्तकार यास्क मुनि को वेदार्थ का निर्देशक माना जा सकता है, वेदभाष्यकार नहीं कहा जा सकता। वेद-भाष्य करने के सिद्धान्तों वा नियमों का मार्गप्रदर्शक होने के नाते निरुक्त को वेदभाष्यकारों का निर्देशक माना जा सकता है, जिसका स्थान निश्चय ही वेदभाष्यकारों से ऊपर माना जायगा। उपलब्ध होनेवाले

वेदभाष्यों में हमें सातवीं शताब्दी में होनेवाले आचार्य स्कन्दस्वामी का अपूर्ण वेदभाष्य मिलता है, जिसका प्रथम अष्टक छप भी चुका है। यह भाष्य उसने नारायण और उद्गीथ के साथ मिलकर किया था, जिसमें नारायण का भाष्य तो सर्वथा नहीं मिलता, उद्गीथ भाष्य दशम मण्डल पर कुछ थोड़ा सा मिला है। स्कन्द से लेकर सायणाचार्य (संवत् १३७२ –१४४४) तक लगभग सात सौ ७०० वर्षों में १६–१७ वेदभाष्यकारों का किया वेदार्थ हमें सम्प्रति मिल रहा है जैसा कि --स्कन्द-उद्गीथ (संवत् ६८७), दुर्ग (निरुक्त टीका में), हरिस्वामी (संवत् ६९५ शतपथ-ब्राह्मणभाष्य में), उवट (संवत् ११००, यजुर्वेदभाष्य), वररुचि (निरुक्त समुच्चय), भट्टभास्कर (तै० संहिता, तै० ब्राह्मण, तै० आरण्यक में), वेङ्कटमाधव (ऋग्भाष्य), आत्मानन्द (अस्वमामीय), आनन्दतीर्थ (ऋग्वेद ४० सूक्त का), माध्वभाष्य(जयतीर्थ तथा नृसिंहयति की छलारी टीका सहित), गुणविष्णु (छान्दोग्यमन्त्रभाष्य), माधव(सामवेदभाष्य), भरत स्वामी(सामवेदभाष्य), देवपाल(लौगाक्षिगृह्यभाष्य), आनन्दबोध (काण्वभाष्य), सायणाचार्य (ऋक् साम अथर्व तथा काण्वभाष्य) ये १७ वेदभाष्य हमें पूर्ण अपूर्ण अवस्था में इस समय मिल रहे हैं। इनसे अतिरिक्त अनन्ताचार्य-मुद्गल-यजुर्मञ्जरीकार, पारस्करमन्त्रभाष्य, वेङ्कटेश का तै० सं० भाष्य, षडङ्गरुद्रभाष्य, जैमिनीयगृह्यमन्त्रवृत्ति आदि सायण के पश्चाद्वर्त्ती भाष्य (वेदमन्त्रों के अर्थ प्रतिपादक ग्रन्थ) इतने सामान्य हैं कि इन पर अधिक लिखने की भी आवश्यकता नहीं।

अब तक के शेष वेदभाष्य वा वेदार्थप्रतिपादक ग्रन्थ, जो उपलब्ध हो रहे हैं, इनमें द्याद्विवेदी (संवत् १५०० नीतिमञ्जरी), महीधर (संवत् १६४५ सम्पूर्ण यजुर्वेदभाष्य), शत्रघ्न (संवत् १५८५ मन्त्रार्थदीपिका) आदि वेदार्थप्रतिपादक ग्रन्थ हैं।

अब हम आचार्य दयानन्द के समय तथा उनके पीछे के वेदार्थ (विदेशीय भाषाओं में तथा आर्यभाषाभाष्यों) का भी संक्षिप्त परिचय देते हैं। ऋग्वेद पर विलसन, ग्रिफिथ, ग्रासमैन के अङ्गरेजी अनुवाद— लुडविग तथा ओल्डन वर्ग के जर्मनानुवाद, ऋग्वेद के कुछ सूक्तों पर फ्रेंच तथा अङ्गरेजी में कई एक अनुवाद हैं। राथ ह्विटनी का अथर्ववेद का अङ्गरेजी अनुवाद, बैनफी का सामवेद का जर्मन अनुवाद, कीथ का तैत्तिरीयसंहिता, ऐतरेय तथा कौषीतकीब्राह्मण का, हाग का ऐतरेय ब्राह्मण का, एगलिङ्ग का शतपथब्राह्मण का, ये सब अङ्गरेजी तथा

जर्मनादि में अनुवाद हैं। आर्यभाषाभाष्यों में ऋग्वेद के कुछ अंशों पर परलोकगत पं० शिवशङ्कर काव्यतीर्थ, महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनिजी, पं० जयदेवजी विद्यालङ्कार, पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी–पं० तुलसीराम जी ने अपने भाष्य इस आधुनिक काल में लिखे। इनका महत्त्व आचार्य दयानन्दकृत भाष्य की दृष्टि से यद्यपि बहुत ही थोड़ा है, पर आचार्य दयानन्द के किये वेदभाष्य से बचे हुए भाग पर करने के कारण इनका महत्त्व भी अङ्गरेजी के अनुवादों की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ जाता है। चाहे इनमें अर्थ की प्रौढ़ता कितनी भी कम हो। ये सब भाष्य भारतीयों के लिये उपादेय हैं। अब हम वेदार्थ की प्रक्रिया पर विचार आरम्भ करते हैं।

यास्क के वेद तथा वेदार्थ का स्वरूप

यद्यपि यास्कमुनि ने किसी भी वेद का भाष्य नहीं किया, पर उन्होंने वेद के अर्थ करने की शैली अत्यन्त ही उत्कृष्ट रीति से दर्शाई है। तभी निरुक्त वेद का अङ्ग बना। निरुक्तकार की वेदविषयक निम्नाङ्कित धारणाएं मुख्य हैं—

(१) 'पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' (निरु० १।२) अर्थात् मनुष्य की विद्या अनित्य है, तभी वेद में कर्मों की सम्पूर्णता का प्रतिपादन है, यह कहकर यास्क मुनि वेद को मनुष्य की कृति नहीं मानते।

(२) 'नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति' (निरु० १।१५) अर्थात् वेद की आनुपूर्वी नित्य है, जैसा कि महामुनि पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में वेद की आनुपूर्वी को नित्य माना है। तद्यथा—'**स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता**' (महाभाष्य ५।२।५९)।

(३) 'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः' (निरु० २।११) इस में स्पष्ट ही ऋषियों को यास्कमुनि ने वेदमन्त्रों का द्रष्टा माना है, मन्त्रों के कर्त्ता (बनानेवाले) नहीं माना है।

(४) यास्क मुनि वेद के सब मन्त्रों का अर्थ तीन प्रकार-आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधियाज्ञिक मानते हैं। इस विषय में इस समय तक उपलब्ध होनेवाले वेदभाष्यकारों में सर्वप्रथम वेदभाष्यकार आचार्य स्कन्द स्वामी का उद्धरण उपस्थित करना ही पर्याप्त होगा—

"सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः ? स्वयमेव भाष्यकारेण (निघण्टुभाष्यकारेण यास्कमुनिनेति लेखकः) त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' (निरु० १।२०) **इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्"** (स्कन्द निरु० टी० ७।५। पृ० ३६)।

इस वचन से सिद्ध है कि जो भाष्य वेदमन्त्रों के तीनों प्रकार के अर्थ नहीं बताता, वह वेदभाष्य नहीं हो सकता।

(५) **'अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते'** (निरु० १।१५) निरुक्त अर्थात् निर्वचन के बिना वेदमन्त्रों का अर्थ कदापि ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता।

निरु० १।१२ में सब नाम शब्दों को धातुज मानकर निरु० १०।१६, १०।१६, और १०।२३ में धातुपाठ में कहे धात्वर्थ से भिन्न धातुओं के अर्थ मानकर महाभाष्यकार महामुनि पतञ्जलि के—'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति' के सिद्धान्त को यास्कमुनि ने माना है।

(६)**'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता'**(निरु० १०।१०,४६) में यास्क ने व्यक्तिविशेषों के इतिहासवाद का खण्डन कर उस का शुद्ध स्वरूप वर्णित कर दिया है, अर्थात् मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों की आख्यान (कहानी) के रूप में कहने की प्रीति होती है, न कि वेद में व्यक्तिविशेषों का कोई इतिहास है। औपचारिक वा आलङ्कारिक वर्णन वेदों में है, ऐसा यास्क महर्षि मानते हैं।

(७) इसीलिये निरुक्त के टीकाकार आचार्य स्कन्द स्वामी ने वेद में इतिहासवाद का सर्वथा खण्डन किया है, जैसा कि—

'एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या' एष शास्त्रे सिद्धान्तः।...... औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यान-समयः, परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्।'

(निरु० स्कन्द टी० भा० २ पृ० ७८)॥

इसी प्रकार वररुचि के 'निरुक्तसमुच्चय' पृ० ७१ में कहा है—

'औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः॥'

इन दोनों उद्धरणों में अपूर्व समानता है और दोनों का यही अर्थ है कि मन्त्रों में व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं, औपचारिक या आलङ्कारिक वर्णन है। वेदों का नित्यपक्ष ही नैरुक्ताचार्यों का सिद्धान्त है।

(८) अर्थ की प्रधानता ('अर्थनित्यः परीक्षेत' निरु० २।१), अर्थ के पीछे पदपाठ-स्वर-विनियोग-विभक्ति का विपरिणाम आदि यास्क तथा उनके टीकाकारों को अभिमत है। जिनका विशद विवरण यहां करना कठिन ही है।

ये हैं मौलिक सिद्धान्त, जिनके आधार पर वेदार्थ का यथार्थस्वरूप समझा जा सकता है, अथवा जिनके ठीक-ठीक न समझने के कारण वेद के विषय में अर्थ का अनर्थ शताब्दियों से होता रहा और अभी तक हो रहा है। शताब्दियों से सामान्य जनता में ही वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति रही, सो बात नहीं। दुर्भाग्यवश जो दूसरों को वेदार्थविषय में बोध करानेवाले वेदभाष्यकार हुये, वह भी भ्रान्ति में (जानकर वा न जान कर) पड़े रहे।

सायणाचार्य वेदार्थ तक नहीं पहुंचे

ऐसी भ्रान्ति में पड़नेवालों में, जिनके कारण सैकड़ों वर्षों तक संसार वेदविषय में घोर अन्धकार में रहा, श्री सायणाचार्य मुख्य कहे जा सकते हैं।

जब सायणाचार्य से भी लगभग ७०० सात सौ वर्ष पूर्व वेदार्थप्रक्रिया की परम्परा यह रही कि वेद के सब मन्त्रों के अर्थ तीनों आध्यात्मिक-आधिदैविक और आधियाज्ञिक प्रक्रियाओं में होने चाहियें, जो निरुक्त-कार का सिद्धान्त है, और जिसे सायणाचार्य से सात सौ वर्ष पूर्ववर्त्ती ऋग्वेद का भाष्यकार आचार्य स्कन्द स्वामी अपनी निरुक्तटीका में सुस्पष्ट लिखता है, ऐसी अवस्था में भी श्री सायणाचार्य ऐसा लिखें कि ब्राह्मण और संहिता में केवल कर्मकाण्ड का ही प्रतिपादन है, तो यही कहना पड़ेगा कि वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया की परम्परा जो निरन्तर चली आ रही थी, उसे या तो सायणाचार्य ने जानबूझकर नष्ट कर दिया या उनमें इसके समझने वा भाष्य करने की योग्यता ही न थी।

विज्ञपाठकों के समक्ष हम इस विषय में श्री सायणाचार्यजी का लेख ही उपस्थित करते हैं—

(१) सायणाचार्यकृत सामवेदभाष्यभूमिका के प्रारम्भ में—

'यज्ञो ब्रह्म च वेदेषु द्वावर्थौ काण्डयोर्द्वयोः।
अध्वर्युमुख्यैर्ऋत्विग्भिश्चतुर्भिर्यज्ञसम्पदः ॥६॥'

इसमें स्पष्ट कहा गया है कि 'वेदों में यज्ञकाण्ड और ब्रह्मकाण्डरूप दोनों प्रकार के अर्थ हैं।...'

(२) सायणाचार्यकृत काण्वसंहिताभाष्यभूमिका में—

'तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपादितत्वात्।'

यहां पर सायणाचार्य शतपथब्राह्मण ही नहीं, संहिता में भी '**दर्शपूर्णमासादिकमर्ण एव प्रतिपादितत्वात्**' इस वचन में दर्शपूर्णमासादि यज्ञकर्मों का ही प्रतिपादन है, ऐसा मानते हैं।

पाठक विचार करें कि आचार्य स्कन्दस्वामी की त्रिविध प्रक्रिया, जिसे वह यास्काभिमत लिखते हैं, उपस्थित होने पर भी, श्री सायणाचार्य को—

'नहि स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' 'पश्यन्नपि न पश्यति' देखता हुआ भी नहीं देखता, यही तो कहना पड़ेगा। क्या सायण ने स्कन्दभाष्य देखा ही नहीं होगा, यह कभी नहीं हो सकता है, जब कि इस समय भी सैंकड़ों वर्षों के पीछे सायणाचार्य की जन्मभूमि दक्षिण भारत में ही स्कन्द की निरुक्तटीका मिली है, जिसमें त्रिविध प्रक्रिया का उल्लेख स्पष्ट है। इसीलिये हम यह कहने में कुछ भी संकोच करने को तय्यार नहीं, कि सायणाचार्य वेदार्थ तक नहीं पहुंचे। कुछ भी कारण रहा हो, सायणाचार्य वेदार्थ तक पहुंचने में आगे आनेवालों के लिए बीच में भित्ति (दीवार अर्थात् बाधक) बन गये। सो भी इतनी ऊंची और इतनी दृढ़ कि किसी को लांघने का साहस नहीं होता था। प्रभु की असीम कृपा से आचार्य दयानन्द उस दीवार को लांघ गये, उनकी कृपा से आज हम भी शास्त्र के आधार पर लांघ रहे हैं।

वेदार्थ-विवेचन

उपर्युक्त धारणाओं तथा सिद्धान्तों को अधिक स्पष्ट करने के लिये हम कुछ मन्त्रों को उदाहरणरूपेण विज्ञ पाठकों के समक्ष रखना चाहते थे, पर इस लघुकाय लेख में यह होना असम्भव हैं, अतः हम यहां केवल ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र को ही उदाहरणरूप में उपस्थित करते हैं—

सायण तथा दयानन्दकृत भाष्य में भेद

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

(१) यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त का प्रथम मन्त्र है। इस मन्त्र का अर्थ श्री सायणाचार्य (संवत् १३७२ से १४४४) ने केवल यज्ञपरक ही किया है। आचार्य दयानन्द ने इस मन्त्र के अर्थ आध्यात्मिक तथा आधिकभौतिक दोनों किये हैं (किसी-किसी मन्त्र का तीनों प्रक्रियाओं में भी अर्थ किया है)।[1] 'अग्नि' शब्द से आचार्य दयानन्द ने इस मन्त्र के भाष्य में '(अग्नि) परमेश्वरं भौतिकं वा' ऐसा अर्थ किया है। अर्थात् एक पक्ष में अग्नि शब्द से परमेश्वर का और दूसरे पक्ष में 'भौतिक अग्नि' का ग्रहण किया है, और इन दोनों अर्थों में अनेक प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में तथा संवत् १९३३ लाजरस प्रैस काशी के छपे ऋग्वेदभाष्य के 'नमूने का अङ्क' में दर्शाये हैं, जो प्रत्येक वेदाभ्यासी के देखने और मनन करने योग्य हैं। यह विदित रहे कि आचार्य दयानन्द ने अपने ऋग्वेदभाष्य का प्रारम्भ मार्गशीर्ष शुक्ल ६ भौमवार संवत् १९३४ को किया था। और 'नमूने का अङ्क' पौष संवत् १९३३ में लाजरस प्रैस काशी में छपा था। 'अग्नि' का अर्थ चूल्हे वा पाक 'अग्नि=आग' ही हो सकता हैं, यह भ्रान्ति आचार्य दयानन्द से पूर्व तो सब को थी ही, जिन्होंने उनके भाष्य को नहीं पढ़ा, उनको अब तक भी यह भ्रान्ति रह रही है। साधारण संस्कृत पढ़ों को ही यह भ्रान्ति हो, सो बात नहीं, यह भ्रान्ति बड़े-बड़े विद्वानों को आचार्य दयानन्द के जीवनकाल में रही और अब तक भी लगभग वैसी ही है।

पं० महेशचन्द्र तथा अन्य विद्वानों की महाभ्रान्ति

कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष श्री पं० महेशचन्द्रजी न्यायरत्न ने जो 'वेदभाष्यपरत्व प्रश्न पुस्तक' छपाई थी, उसके पूर्वपक्ष आचार्य दयानन्द ने अपनी 'भ्रान्तिनिवारण' पुस्तक में लिखे हैं, उनमें से कुछ उद्धरण हम विज्ञ पाठकों के समक्ष रखते हैं:—

(१) '(अग्निमीडे पुरोहितम्) इसके भाष्य में स्वामीजी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है। जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द के

---

१. देखो यजुर्वेद अ० १ मन्त्र ११ का अर्थ, यहां आचार्य दयानन्द ने तीन प्रकार का अर्थ किया है।

सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साक्षी वर्त्तमान है।'

भ्रान्तिनिवारण संस्करण ४ पृ० ६।

(२) 'निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक के लिये आया है। कोई सूर्य को बताते हैं। खैर कुछ भी हो, परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता' (भ्रान्तिनिवा० पृ० २०)।

(३) 'सिवाय भौतिक के दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।' (भ्रा० नि० पृ० १२)।

अब यदि यह सिद्ध हो जाये कि 'अग्नि' 'वायु' आदि शब्दों का अर्थ सिवाय भौतिक 'आग' 'हवा' के कुछ नहीं हो सकता, तब तो आचार्य दयानन्द का सम्पूर्ण वेदभाष्य कुछ भी नहीं रह जाता, सर्वथा अग्राह्य हो जाता है। यदि हर एक मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक-आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रक्रिया में होता है, यह सिद्ध हो जाता है, जैसा कि हम पूर्व प्रमाण (आज से १३०० वर्ष पूर्व का) उपस्थित कर चुके हैं, ऐसी अवस्था में सायणाचार्य और उसके अनुगामी चाहे वे भारतीय हों, या अभारतीय, सब के सब वेदार्थ से अनभिज्ञ वा भ्रान्त ही कहे जायेंगे। सायणाचार्य का अर्थ केवल यज्ञपरक है, दुर्जनसन्तोषन्याय से वह सब ठीक भी मान लिया जावे, तो भी वह वेदार्थ तृतीयांश ही कहा जायगा, उससे द्विगुणा शेष वेदार्थ तो लुप्त है, यही मानना पड़ेगा। वेदार्थ के प्रत्यक्ष तथा गम्भीर विवेचन के लिये हम ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का सब आचार्यों का उपलभ्यमान अर्थ अतिसंक्षेप से उपस्थित करते हैं, जिस से वेदार्थप्रक्रिया पर सुगमता से विचार हो सके—

ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का सायणभाष्य

'[अग्निं] अग्निनामकं देवम् ईडे स्तौमि··· यज्ञस्य पुरोहितं यथा राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं सम्पादयति, तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं सम्पादयति। यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितं। पुनः कीदृशम्। देवं दानादिगुणयुक्तं होतारं ऋत्विजं देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विगग्निरेव।···पुनः कीदृशं रत्नधातमं यज्ञफलरूपाणां रत्नानामतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा॥'

भावार्थः—"(अग्निम्) अग्नि नामवाले (यज्ञस्य पुरोहितम्) यज्ञ के

पुरोहित अर्थात् जैसे राजा का पुरोहित उसके अभीष्ट को सिद्ध करता है, उसी प्रकार अग्नि भी यज्ञ द्वारा अपेक्षित होम को सिद्ध करता है, अथवा यज्ञसम्बन्धी (वेदि) के पूर्व भाग में स्थित आहवनीय (कुण्ड) में रहने वाली (अग्नि को), पुनः कैसी (देवम्) अनादि गुणयुक्त (होतारम्, ऋत्विजम्) देवों के यज्ञ में 'होता' नाम का ऋत्विक् 'अग्नि' ही है। पुनः वह अग्नि कैसा है (रत्नधातमम्) यागफलरूप रत्नों का सबसे अधिक धारण वा पोषण करनेवाला है।"

पाठक देखें सायणाचार्य इस मन्त्र का अर्थ 'यज्ञ की अग्नि की मैं स्तुति करता हूं' केवल यज्ञपरक ही अर्थ करते हैं, मन्त्र में आये सब पदों का अर्थ यज्ञाग्नि के विशेषणरूप में ही किया है।

आचार्य दयानन्द का अर्थ

अथ प्रथमोऽर्थः

'अहं (यज्ञस्य) इज्यतेऽसौ यज्ञस्तस्य महिम्नः कर्मणो विदुषां सत्कारस्य संगतस्य सत्सङ्गत्योत्पन्नस्य विद्यादिदानस्य (पुरोहितम्) सर्वस्य जगतः स्वभक्तानां च धर्मात्मनां भक्तेरम्भत् पुरोहितः परमात्माग्निः (ऋत्विजम्) य ऋतौ-ऋतौ प्रत्युत्पत्तिकालं संसारं यजति संगतं करोति, सर्वेषु ऋतुषु यजनीयस्तम् (होतारम्) दातारमादातारं वा, सर्वजगते सर्वपदार्थानां दातारम्। मोक्षसमये प्राप्तमोक्षाणां जनानामादातारं ग्रहीतारं, वर्त्तमानप्रलययोः समये सर्वस्य जगत आदातारं ग्रहीतारमाधारभूतं होतारम् (रत्नधातमम्) रत्नानि सर्वजनै रमणीयानि प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तानि ज्ञानहीरकसुवर्णादीनि च, जीवेभ्यो दानार्थं दधातीति रत्नधाः, अतिशयेन रत्नधाः स रत्नधातमस्तं रत्नधातमम् (देवम्) दातारं, हर्षकरं विजेतारं, द्योतकं वा (अग्निम्) परमेश्वरं (ईडे) स्तौमि।

अथ द्वितीयोऽर्थः

(अग्नि) रूपगुणं दाहकमूर्ध्वगामिनं भौतिकमग्निम्(ईडे) अधीच्छामि, प्रेरयामि वा, तस्य गुणानामन्वेषणं कुर्वे, कीदृशमग्निं, (पुरोहितम्) पुरस्ताद् विमान-कलाकौशल-क्रियाप्रचालनादिगुणमेतं शिल्पविद्यामयं दधातीति पुरोहितस्तम् (यज्ञस्य) विविधक्रियाजातस्य शिल्पविद्यादि-क्रियाजन्यबोधसंगतस्य (देवम्) व्यावहारिकविद्याप्रकाशकम् (ऋत्विजम्)

सर्वशिल्पादिव्यवहारविद्याद्योतनार्हम् (होतारम्) तद्विद्यादिगुणानां दातारमादातारं च (रत्नधातमम्) तद्विद्यानिष्ठानां शिल्पिनां रत्नै-रतिशयेन पोषकम्, तद् विद्याधारकं वा'।

भाषार्थः—(१) "मैं (यज्ञस्य) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त विविध क्रियाओं से जो सिद्ध होता है, और जो वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा सब जगत् को सुख देनेवाला है, उसका नाम यज्ञ है। परमेश्वर से लेके पृथिवीपर्यन्त कार्य कारण सङ्गति से उत्पन्न हुआ जो जगत् रूप यज्ञ है, अथवा सत्यशास्त्र सत्यधर्माचरण सत्यपुरुषों के सङ्ग से जो उत्पन्न होता है, जिसका नाम विद्या, ज्ञान और योग है, उसका भी नाम यज्ञ है, इन तीनों प्रकार के यज्ञों का जो (देवम्) देव है, जो सब सुखों का देने वाला, जो सब जगत् का प्रकाश करनेवाला है, जो सब भक्तों का आनन्द करानेवाला, जो अधर्म अन्यायकारी शत्रुओं का और काम क्रोधादि शत्रुओं का विजिगीषक नाम जीतने की इच्छा पूर्ण करनेवाला है, इससे ईश्वर का नाम देव है। (ऋत्विजम्) जो सब ऋतुओं में पूजने के योग्य है, जो सब जगत् का रचनेवाला, अनादियज्ञ की सिद्धि का करनेवाला है। (होतारम्) जो सब जगत् के जीवों को सब पदार्थों का देनेवाला है। जो मोक्षसमय में मोक्ष को प्राप्त हुए जीवों का ग्रहण धारण करनेवाला है, (रत्नधातमम्) जिनमें रमण करना योग्य है, जो प्रकृत्यादि पृथिवी पर्यन्त रत्न तथा विज्ञान हीरादि रत्न और सुवर्णादि हैं, जिनके यथा-योग्य उपयोग करने से आनन्द होता है, उन रत्नों का सब जीवों के दान के लिये जो धारण करता है, वह रत्नधा कहाता है और जो अतिशय से पूर्वोक्त रत्नों का धारण करनेवाला है, इससे परमेश्वर का नाम रत्न-धातम है। इन गुणों वाले (अग्निम्) सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी आदि गुणवाले परमेश्वर की मैं (ईडे) स्तुति करता हूं।"

(ऋग्वेदाङ्क पृ० ५, ६)

(२)

"(अग्निमीडे) अब दूसरा अर्थ। व्यवहारविद्या के अभिप्राय से ····· इस अर्थ में अग्नि शब्द से, भौतिक अग्नि जो यह जलाने और ऊपर चलानेवाला है, तथा सब पदार्थों को अलग-अलग करने और बल देने वाला, तथा जिसका रूप गुण है और मूर्तिमान् द्रव्यों का जो प्रकाशक है, ज्वालारूप, उसका ग्रहण किया जाता है। मैं उस अग्नि की स्तुति करता

हूं। अग्नि में कौन-कौन गुण हैं.....(पुरोहितम्) विमान-कला कौशल क्रिया चालनादि गुणों का धारण करने वाला है और सब विद्याओं का प्रथम हेतु होने से अग्नि का नाम पुरोहित है (यज्ञस्य देवम्) यज्ञ का देव अर्थात् विविध क्रियाओं से जो शिल्पविद्या बनती है, उस विद्या का जो प्रकाश करनेवाला है, सो देव है। (ऋत्विजम्) जो शिल्पादि सब व्यवहारों की सिद्धि करनेवाला है (होतारम्) जो उस विद्या के दिव्य गुणों को देने और धारण करनेवाला है (रत्नधातमम्) जो उस शिल्पविद्या के जाननेवाले मनुष्यों को रत्नों से अत्यन्त सुख देनेवाला है, उसी को हम लोग शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये ग्रहण करें।" (ऋग्वेदभाष्य के नमूने का अङ्क पृ० ६) ॥

दोनों प्रकार की विचारधारा का इस मन्त्र का अर्थ हमने जानकर ही कुछ विस्तार से पाठकों के सामने रखा है, जिससे साधारण पाठक भी भली प्रकार समझ सकता है कि सायण और दयानन्द के अर्थों में कितना स्पष्ट भेद है। जहां सायणाचार्य केवल भौतिक यज्ञ की अग्नि का ही वर्णन करते हैं, वहां आचार्य दयानन्द इस मन्त्र में सच्चिदानन्दादि गुण विशिष्ट परमेश्वर का प्रतिपादन करके भौतिक अग्नि का भी कितना सुन्दर निरूपण करते हैं, जिससे वेद का गौरव प्रत्येक पाठक के अन्तःपटल पर अङ्कित होता है। उधर सायणाचार्य का अर्थ केवल भौतिक अग्निपरक ही होने से वेद के प्रति प्रत्येक पाठक के हृदय में कुछ भी श्रद्धा उत्पन्न करने में असफल ही नहीं, अपितु अश्रद्धा उत्पन्न कर लोगों को यह कहने का अवसर दे रहा है कि वेद गड़रियों के गीत हैं।

विस्तरभय से अब हम भिन्न-भिन्न वेदभाष्यकारों का इस मन्त्र का अर्थ अति संक्षेप से दर्शा देना चाहते हैं, जिससे आगे विचार करने में सुविधा हो सके—

अन्य भाष्यकारों का इस मन्त्र का अर्थ

(३) माधवः (i) 'अग्निमीडे अग्निं स्तौमि यदि वा याचे। पुरोहितं आहवनीयं, स हि पुरस्तान्नि...प्रणेतारं, तं हि पुरस्कुर्वन्ति। यज्ञस्य देवं यज्ञस्य स्वामिनम्। यज्ञो यजतेस्तर्पणार्थात्। दिवेर्दानार्थाद् द्योतनार्थाद् वा। ऋत्विजं यष्टारम् होतारं ह्वातारं देवानाम् रत्नधातमं रत्नानामतिशयेन पातारम्।'

वेङ्कटमाधवः संवत् (११००-१२००) (ii) अग्निं स्तौमि। पुरो-

निहितमुत्तरवेद्यां यज्ञस्य द्युस्थाने स्वे स्वे काले देवानां यष्टारं ह्वातारं देवानां रमणीयानां धनानां दातृतमम् ।'

(४) सायणः तै० संहिताभाष्ये—'इममग्निमीडे अग्निं स्तौमि, कीदृशं पुरोहितं पुरोदेश आहवनीये स्थापितं, यज्ञस्यानुष्ठीयमानस्य कर्मण ऋत्विजं ऋत्विक्त्वनिष्पादकं, देवं द्योतमानं, होतारं देवानामाह्वातारं, रत्नधातममतिशयेन रत्नानां मणिमुक्ताप्रभृतीनां सम्पादकम् ।' तै० सं० ४।३।१३।३ पृ० २१४४ आनन्दाश्रम सं० ॥

(५) यास्को निरुक्तकारः—'अग्निमीडेऽग्निं याचामि ईडिरध्येषणा-कर्मा, पूजाकर्मा वा, पुरोहितो व्याख्यातः (निरु० २।१२) [पुर एनं दधतीति] यज्ञश्च (निरु० ३।१९) [प्रख्यातं यजतिकर्मा], देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा···होतारं ह्वातारं जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः, रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम् ।'

(६) दुर्गाचार्यः (निरु० टी०)—'यः अग्निः देवपुरोहितः पाकयज्ञे, अस्माकं यज्ञे यश्च ऋत्विक्, होता यज्ञस्य, रत्नधातमश्च दातृतमो रत्नानां, तमहं रत्नानि याचे इति समस्तार्थः ।' (दुर्गटी० वेङ्कटेश्वर सं० पृ० ५९३) ।

(७) आचार्य स्कन्दस्वामी (निरु० टी०)—

'मधुच्छन्दसः परा च । अग्नीमीडे ईड स्तुतौ याच्ञायां वा यद्वा अध्येषणायां स्तौमि याचे । पूजाकर्मा वा । कीदृशम् । पुरोहितं शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकैः कर्मभी राजानं सर्वापद्भ्यस्त्रायते यः स पुरोहित उच्यते, तत्स्थानीयम् । कस्य । यज्ञस्य आपदामपहर्त्तारमित्यर्थः । देवं देवेभ्यो मनुष्येभ्यश्चाग्निर्ददाति तदायत्तत्वात्तस्य दीपयति च । न च यज्ञस्य देवमेव केवलम् । किन्तर्हि । ऋत्विजश्च । कतमम् । होतारं आह्वातारं कस्य । सामर्थ्याद् देवानाम् ।···रत्नधातमम् रत्नानामतिशयेन दातारम् ।' स्कन्द निरु० टी० भाग ३ पृ० ७६ ।

(८) स्कन्दः (ऋग्वेदभाष्य) प्रायः पूर्ववदेव सर्वोऽप्यर्थः ।

(९) आनन्दतीर्थः (मध्व ऋग्भाष्य ४० सूक्त)—

(ii) जयतीर्थटीका—'तथात्वं चेश्वरस्याग्निशब्दो वक्ति ।···अनेनाभिप्रायेणाग्निशब्दमादि कृत्वा भगवान् बादरायणः सर्वशब्दानामीश्वरपरतया निरुक्ति निर्वचनमाह । ऋगर्थश्च त्रिविधो भवति, एकस्तावद्

प्रसिद्धाग्न्यादिरूपः, अपरस्तदन्तर्गतेश्वरलक्षणः, अन्योऽध्यात्मरूपः । तत् त्रितयपरं चैतद् भाष्यम् । तत्राग्निमीड इत्याद्यामृचं व्याचक्षाणोऽग्निशब्दार्थं तावन्निर्वक्ति । अग्निशब्दोऽयमिति । अयमादितः प्रयुक्तोऽग्निशब्दोऽग्नेस्तदन्तर्गतहरेश्च बाह्ययज्ञे, अध्यात्मं च हरेर्ज्ञानयज्ञे मुख्यामुख्यत्वाभ्यामग्र एवाशेषपूज्येभ्यः पूर्वमेवाभिपूज्यतामभिपूज्यत्वम् आहेति सम्बन्धः ।···अग्निमीडे तं स्तौमीति ।···पुरोहितं पुरः पूर्वमेवानादित एव हिते···अशेषस्य, यज्ञस्य ऋत्विज यज्ञानां बाह्यानामाध्यात्मिकानां च ऋत्विजं···देवं द्योतनाद् विजयात् कान्त्या व्यवहृतेरपि गत्या रत्या च, होतारं होतृसंस्थं···एवं विष्णौ होतृशब्दं व्याख्यायाग्नौ व्याख्याति··· अध्यात्मं होतृशब्दं व्याख्याति तत्तदिन्द्रियविषयलक्षणानां हविषां होता हरिः···रत्नधातमं···रत्नं रतिं धत्त इति रत्नधा···अतिशयेन रत्नधातमः । (जयतीर्थ टीका पृ० ३, ४)

(१०) नरसिंहयतिः (छलारी टीका) —पृ० ७ से ९, पूर्वोक्तजयतीर्थटीकाया एव व्याख्याने तत एव द्रष्टव्यम् ।

(११) राघवेन्द्रयतिः (मन्त्रार्थमञ्जरी) —

'वेदा विष्णुपराः । विष्णुपरोंकारव्याख्यानत्वात् ।···शास्त्रैकसमधिगम्यपुरुषज्ञानस्य च वेदैरेवोत्पाद्यत्वाद् वेदानां विष्णवर्थत्वसिद्धिः········ हन्तैतमेव पुरुषं सर्वाणि नामान्यभिवदन्ति ।' (उपोद्घात पृ० २, ३) ।

(ii) पृ० ८—'विनियोगो विष्णुप्रीतिद्वारा मोक्षे·········अग्निमीड इत्यारभ्य पुरोहितं अनादितः सर्वप्राणिनामनुकूलम्, उदात्तस्योच्चार्थता इत्युक्तेरुदात्तस्वरेणोच्चत्वलाभात् प्रभुम् । यज्ञस्य ऋत्विजं जातावेकवचनं ज्योतिष्टोमादीनां कर्तृतया···ऋत्विङ्नामकम्······होतारं होतृनामकमृत्विजम्·······देवं क्रीडादिकर्तारं······अग्निं सर्वपूज्येभ्यः प्रथमपूज्यम्······अग्निनामकं विष्णुं तदधिष्ठानं प्रसिद्धाग्निं वा । ईडे स्तौमि । (मन्त्रार्थमञ्जरी पृ० ७ ८) ।

(iii) 'अध्यात्मपरत्वे त्वयमर्थः—पुरोहितम् अनादितः सर्वानुकूलम् । यज्ञस्य ज्ञानयज्ञस्य, ऋत्विजम् - ऋत्विग्भूतेन्द्रियाभिमानिनियामकतया तत्र स्थितत्वेन ऋत्विङ्नियामकम् । होतारम् इन्द्रियाख्याग्निषु विषयलक्षणहविषां···दातारं, अग्निं···सर्वशरीरप्रवर्तकम्, ईडे इति । अत्राध्यात्मं सर्वत्र मोक्षसाधको यः कश्चित् सात्त्विक एव यजमानो ज्ञेयः । शिष्टं प्राग्वद् व्याख्येयम् ।' (मन्त्रार्थमञ्जरी पृ० ९) ।

(१२) द्याद्विवेदी (नीतिमञ्जरी)—'अस्या ऋचोऽर्थः—अहम् अग्नि देवमीडे स्तौमि याचामि। ईडे स्तुत्यर्थो धातुः। डकारस्य लत्वं वैदिकलक्षणे शौनकेनोक्तम् - द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य सम्पद्यते स डकारो लकार इति……कीदृशमग्निं पुरोहितं देवानां पौरोहित्येन वर्तमानम्।… …पुनः कथम्भूतं यज्ञस्य देवं दीपकं द्योतकं वा। अग्निं विना यज्ञो न विद्योतते ·· होतारम् ऋत्विजं देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विगग्निरेव।… · रत्नधातमं रमणीयानां धनानां धारयितारं दातृतममिति।' (नीतिमञ्जरी पृ० ६, ७)।

(१३) दुर्गादास लाहिड़ी ऋग्वेदसंहिता मर्मानुसारिणी व्याख्या—कलकत्ता—पृ० ११६—

'अग्निं ज्ञानदेवं ज्ञानमित्यर्थः, ईडे स्तौमि, हृदि उद्दीपयामि इत्यर्थः, ज्ञानमेव पुरोहितं लोकानां हितसाधकम्, यज्ञस्य देवं सत्कर्मणः प्रत्यक्षफलम्, ऋत्विजं सत्कर्मप्रवर्तकम्, होतारं सद्भाववर्धकम्, रत्नधातमं धर्मार्थकाममोक्षरूपस्य श्रेष्ठरत्नस्याधारम्। मन्त्रोऽयम् आत्मोद्बोधकः। भावार्थः—ज्ञानार्जनाय प्रयत्नं प्रयोजनम्। ज्ञानं हि सकलश्रेयःसाधकम्।'

अथवा

" 'यज्ञस्य' (यागादिसत्कर्मणः) 'पुरोहितं' (पूरकं, याज्ञिकानामभीष्टसाधकं इत्यर्थः) 'होतारं' (देवानामाह्वातारं), 'ऋत्विजं' (सङ्कल्पितफलसाधकं), रत्नधातमं (यागफलप्रदातारं) 'देवं' (दीप्तिदानादिगुणयुक्तं) 'अग्निं' तेजोमयं चैतन्यस्वरूपं भगवन्तं इत्यर्थः) 'ईडे' (स्तौमि हृदि उद्बोधयामि इति भावः)। अयं भावः—परमार्थलाभाय चैतन्यस्वरूपं भगवन्तं हृदि प्रतिष्ठापयामि—इत्येवं सङ्कल्पमूलकोऽयं मन्त्रः।"

(१४) कपालिशास्त्री-सिद्धाञ्जनव्याख्या (संवत् २००८) (श्री अरविन्द आश्रम पाण्डीचेरी)—'अग्निं अग्निनामकं (देवं) ईडे अभ्येषणीयत्वेन स्तौमि। कीदृशम्? पुरोहितं पुरस्तात् निहितं कार्यनिर्वाहाय। पुनः कीदृशम्? यज्ञस्य देवं ऋत्विजं देवता सम्भावनार्थं अनुष्ठीयमानस्य निर्वर्त्तते यो देव एव ऋत्विग्भूतः तम्। पुनश्च कीदृशम्। होतारं ह्वातारं सामर्थ्याद् देवानाम्। पुनरपि कथम्भूतम्? रत्नधातमम् रमणीयानां रत्नीनां अतिशयेन धारकम्।'

अग्निपदं बहुधा निब्रु्वते नैरुक्ताः। येषां निर्वचनानां परीक्षणे स्पष्ट-

मिदमवगम्यते, यत् ब्राह्मणवाक्यबलात् कयाचिद्विधया अग्निस्वरूपमाकलय्य निर्वचनानि विकल्पतो दत्तानीति। 'स वा एषोऽग्रे देवतानामजायत तस्मादग्निर्नाम' इत्यादि ब्राह्मणवाक्यानि 'अग्रणीः' इत्यादिनिर्वचनस्य मूलमिति ज्ञायते। वैयाकरणपक्षे अङ्गतेर्धातोर्निष्पन्नं अग्निपदम्। 'अङ्गेर्नलोपश्च' इत्युणादिसूत्रमुदाहरन्ति। अङ्गति गच्छति ऊर्ध्वं, हविः स्वर्गं नेतुमिति वा व्युत्पत्तिमाचक्षते। प्राचीन-आर्य-भाषाशाखीयानां अन्यर्थकधातूनां परीक्षणे बलवद्दीप्तिमद्गतिरन्वयवार्थो भवति। एवं च सङ्गच्छन्ते अग्निधर्मप्रतिपादकाः शब्दा इति बोध्यम्।

ईडे—स्तौमीति सायणः, याचामीति यास्कः। धातूनां बह्वर्थत्वे न विवादः। ईडतिर्याच्ञाकर्मा अध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वेति यास्कः। अग्निस्वरूप-तदधिकार-तन्निर्वाहापेक्षया अध्येषणाकर्मेत्युपपन्नतमम्। अध्येषणा अधिका एषणा प्रेरणा भवति। पूज्यस्य पुरोहितस्य अग्नेर्देवस्य वा सत्कारपूर्वकं कर्त्तव्यविशेषेषु नियोजनं अध्येषणेति उच्यते। ईडे अध्येषे।

पुरोहितम्—यजनकर्म-निर्वाहाय यजमानस्य पुरस्तादग्रे निहितः अग्निः। अत एव तं ऋषिरन्तर्यागे, यजमानो बहिर्यागे अध्येषते। एवं चोपपद्यते ईडतिरध्येषणार्थः। पुरोहितम्—'पुर एनं दधते' इत्याम्नायश्च सङ्गच्छते। 'यज्ञस्य पुरोहितम्' 'होतारं देवम् ऋत्विजम्' 'रत्नधातमम्' इति व्याख्यातणामन्वयः नावश्यकः न च समीचीन इति द्रष्टव्यम्। पादशः अन्वयस्य सम्भवे सति, पादान्तरस्थपदैः पादान्तरस्थपदानां योजना न ऋज्वी। तस्माद् 'यज्ञस्य देवं ऋत्विजं' इति पादो व्याख्यातः।

होतारम्—स्वयं देवः सन् अन्यान् यज्ञे समुपस्थितान् कर्तुं आह्वयति एवं आह्वानप्रभुरग्निः।

रत्नधातमम् रमेर्धातोः औणादिक-क्न-प्रत्ययान्तं रत्नपदमिति सर्वेषामभिमतम्। 'रत्नं सुखं धत्त इति रत्नधा अतिशयेन रत्नधास्तमम्' इति मन्त्रार्थमञ्जरीनिर्वचनं अन्तर्यागपराणां नः सम्मतम्। अन्तर्यजने प्रवृत्तस्य ऋषेर्यजमानस्य अर्पणानां फलभूताः रत्नपदवाच्या या रतयः तासां धारकः प्रतिष्ठापकः अग्निरेव भवतीत्यन्तरर्थः। बहिर्यागात् नान्यदस्तीति वादिनां पक्षे, रत्नं धनं यागफलभूतं गवाश्वादिकं तस्यातिशयेन दाता अग्निः तं, इति॥

इदं च ऋचस्तात्पर्यं भवति --'यो यज्ञस्य निर्वोढा अग्रणीः पुरोहितः, यश्च काले कर्तव्यस्य यज्ञस्य कर्त्ता कारयिता च ऋत्विग्भूतो देवः, यो देवान् यज्ञे सन्निधापयितुं प्रभवन् तेषामाह्वाता, यः पुनर्यजमाने प्रहर्षातिशयानां आधायकः तमग्निं अध्येषणीयं अभिकाङ्क्षामि इति ॥

(१५) स्वामी शङ्कराचार्य जी ने अपने वेदान्तभाष्य में निरुक्त के 'अग्निः कस्माद् अग्रणीर्भवति' प्रमाण के आश्रय से अग्नि शब्द का परमात्मा अर्थ किया है। उनका लेख इस प्रकार है—

'अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति'
—वेदान्त शांकरभाष्य १।२।२९॥

स्वामी शङ्कराचार्य जी महाराज निरुक्त के भिन्न-भिन्न निर्वचनों से आध्यात्मिक आदि प्रक्रियाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ होते हैं ऐसा मानते हैं, यह भी इस वचन से सिद्ध हो रहा है। यहां अग्नि का परमात्मा अर्थ माना है ।

इस मन्त्र के अङ्ग्रेजी अनुवाद

(16) Hermann oldenberg 1' 88 Berlin - ओल्डन वर्ग का Hymen des Rigveda ऋग्वेद का जर्मनानुवाद—1. 1. 1.

'A laud Agni, the great high priest, god, minister of sacrifice. The herald lavishest of wealth.'

(17) Ralf T. H. Griffith—(Rigveda Sanhita)—1.1 1.

'I magnify Agni, the purohita, the divine minister-ant of the sacrifice, the Holi priest the greatest bestower of treasures.'

(18) H. H. Wilson (Rigveda Sanhita vo 1)—I. I. I.

'I glorify Agni, the high priest of the sacrifice, the divine, the ministrant who presents the oblation, (to the gods), and is the possessor of great wealth.'

(19) A. A. Macdonell (A Vedic Reader oxford 1917) पृ० ३.

'I magnify Agni, the domestic priest, the divine

ministrant of the sacrifice, the invoker, best bestower of treasure.'

(20) Prof. max Muller—

'I magnify Agni, the Purohita, the divine ministrant of the sacrifice, the Hotri (होतृ) priest, the greatest bestower of treasures.'

इनसे अतिरिक्त अंग्रेजी फ्रेंच् जर्मन भाषाओं में इस मन्त्र के अनुवाद कुछ अन्य विद्वानों के किये हुए भी हैं, उन्हें हम छोड़ते हैं।

पूर्वोक्त मन्त्र का अर्थ-विवेचन

ऋग्वेद के इस प्रथम मन्त्र,के २० भाष्यकारों का अर्थ हमने ऊपर दिखाया है। इनमें से प्रकृत विचार में मुख्य होने के कारण दो सायणाचार्य और आचार्य दयानन्द के किये अर्थ को हमने आर्यभाषा में भी दर्शा दिया है। शेष इन दोनों में गतार्थ हो जाते हैं, इनका भाषार्थ नहीं दिया। अब हम उक्त २० भाष्यों में किये अर्थ का विवेचन अति संक्षेप से करेंगे।

सर्वप्रथम हम यास्क के अर्थ को लेते हैं। निर्वचन पर आश्रित होने से यह अर्थ अधियज्ञ तथा आध्यात्मिक—इन दोनों अर्थों में सङ्गत हो रहा है। यदि वेदमन्त्रों का अर्थ यज्ञपरक ही होता तो अनेकविध निर्वचनों की आवश्यकता नहीं थी। अनेक निर्वचन याज्ञिक अर्थ में घट ही नहीं सकते।

भाष्यकारों में से वेङ्कट-माधव-सायण (तै० सं०) दुर्ग (निरु० टी०) स्कन्द (निरु० टी०)-स्कन्द ऋग्भाष्य-द्या द्विवेदी-ओल्डन वर्ग-ग्रिफिथ-मैकडानल और विलसन—ये ११ भाष्यकार तथा अनुवादकर्त्ता प्राय: सायणाचार्य के ही अनुगामी हैं या सायणाचार्य इनका साथी है। ये सब इस मन्त्र का अर्थ प्राय: यज्ञपरक ही करते हैं। सायण का अर्थ पढ़ लेने से ही ये सब गतार्थ हो जाते हैं। सबका भावार्थ यही है कि—

'जो (भौतिक)अग्नि पाकयज्ञ में देवों का पुरोहित है, और जो हमारे यज्ञ में ऋत्विग्रूप है और यज्ञ का होता है और रत्नों का देनेवाला है, उस अग्नि से मैं रत्न मांगता हूं। या ऐसे अग्नि की मैं स्तुति करता हूं।' यज्ञ का अग्निपरक ही सबने अर्थ किया है। सब का अर्थ प्राय: समान ही है।

अब आध्यात्मिक प्रक्रिया में इस मन्त्र का अत्यन्त सारगर्भित जीवन को प्रेरणा देने—युक्ति और प्रमाणसङ्गत अर्थ (१) ऋषिदयानन्दकृत है, जो हम ऊपर दर्शा चुके हैं।

इनसे अतिरिक्त (२) जयतीर्थ ने 'अग्नि' शब्द से 'ईश्वर' का ग्रहण किया है। पृ० ३। 'पुरोहित' का अर्थ अनादिकाल से सबका हितकारी, आध्यात्मिकयज्ञ का ऋत्विक् तथा होता, देव, द्योतन, विजय, कान्तियुक्त दिव्य स्वरूप, अत्यन्त रमणीय ईश्वर की मैं स्तुति करता हूं। (३) नृसिंहयति ने छलारी टीका में इसी अर्थ की पुष्टि की है। (४) राघवेन्द्रयति ने मन्त्रार्थमञ्जरी में पृ० २ 'शास्त्रों द्वारा जाने जानेवाले परम पुरुष विष्णु का ज्ञान वेदों के द्वारा ही जाना जा सकता है, अतः वेद के सब मन्त्र विष्णुपरक हैं' तथा 'परम विष्णु को ही सब नाम कहते हैं' इत्यादि लिखते हुए आगे इस मन्त्र का अर्थ विष्णुपरक किया है। जैसे कि पृ० ८, ९ पर—'पुरोहित अनादि से सर्वानुकूल, ज्ञानयज्ञ के ऋत्विक् ऋत्विग्भूत इन्द्रियाभिमानी सर्वशरीर प्रवर्तक अग्नि की, ईडे स्तुति करता हूं।' (५) दुर्गादास लाहिड़ी ने यद्यपि सायण का यज्ञपरक अर्थ भी दिया है, स्वयं भी यज्ञपरक अर्थ किया है। आध्यात्मिक अर्थ में उसने 'ज्ञानदाता, लोकों का हितसाधक, सत्कर्म सद्भावों के वर्धक, धर्मार्थकाममोक्षरूप श्रेष्ठ रत्नों के धारक अग्नि सर्वज्ञ की मैं स्तुति करता हूं' यह अर्थ करके इस मन्त्र को आत्मबोधपरक माना है। (६) कपाली स्वामी (अरविन्द आश्रम पाण्डीचेरी) चाहे वेद को उस रूप में ईश्वरीय नहीं मानते, जिस रूप में आचार्य दयानन्द ने माना है, तथापि इनका अर्थ बहुत अच्छा है. दयानन्द के (अन्यों की अपेक्षा) सबसे अधिक अनुकूल है। यह है सार ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के सब भाष्यकारों के अर्थों का।

स्कन्दस्वामी ने तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ क्यों नहीं किया

अपनी निरुक्तटीका भाग ३ पृ० ३६, ३७ (जिसका उद्धरण हम पूर्व दर्शा चुके हैं) में दर्शाये अपने सिद्धान्तानुसार स्कन्द ने न तो निरुक्तटीका में, न ही ऋग्भाष्य में तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ किया। हमारी दृष्टि से इसका कारण उसकी अपनी आध्यात्मिक अयोग्यता है, जिसका उल्लेख (पृ० ३५) पर किया है—'अध्यात्मविदस्तावत् सन्मात्रनिबद्धबुद्धयः ......निरस्तसमस्ताधयो निरस्तबाह्यविषयैषणा निरुद्धान्तः करणवृत्तयो

निष्कम्पदीपकल्पाः ज्ञेयज्ञानमनना:···अन्यं न पश्यन्ति न श्रृण्वन्ति' अपने इस वचन के अनुसार स्कन्द ने अपने में इन उपर्युक्त गुणों का अभाव जानकर अपने भाष्यादि में आध्यात्मिकादि अर्थ नहीं किया अर्थात् आध्यात्मिकता का मिथ्या प्रदर्शन नहीं किया।

दयानन्द के रोम-रोम में ईश्वर और वेद समाया था

पाठक देखें, कि भारतीय संस्कृति की माता के मुख्यमणिरूप आध्यात्मिकता का प्रतिपादन कर आचार्य दयानन्द ने भारत पर ही नहीं, अपितु समस्त संसार पर कितना महान् और अनिर्वचनीय उपकार किया। परम प्रभु की असीम कृपा वा प्रेरणा के विना ऐसा कभी नहीं हो सकता। दयानन्द के प्रत्येक ग्रन्थ के प्रति पृष्ठ में ईश्वर और वेद का प्रतिपादन पदे-पदे मिलेगा। इतना ही नहीं दयानन्द के रोम-रोम में ईश्वर और वेद का प्रकाश परिपूर्ण हो रहा था।

सायण तथा दयानन्द सरस्वती के वेदार्थ का विवेचन महात्मा अरविन्द की दृष्टि से

पाठकों ने देखा कि सायण के यज्ञपरक अर्थ से भिन्न अर्थ न केवल आचार्य दयानन्द ने ही किया, अपितु आनन्दतीर्थ-जयतीर्थ-राघवेन्द्रयति आदि अनेक आचार्यों ने किया हमारा ऊपर दर्शाया सायण तथा तदनुगामी भाष्यकारों का किया अर्थ वेद के गौरव को बढ़ानेवाला है या घटानेवाला, इसका निर्णय हम पाठकों पर ही छोड़ते हैं।

सायणभाष्य (जिसे वेदार्थ का अभ्यासी सर्वथा छोड़ भी नहीं सकता) वेदार्थ तक पहुंचने के मार्ग में कहां तक भ्रामक, नहीं-नहीं दृढ़-भित्ति दीवार के रूप में बाधक सिद्ध हुआ, यह हम अपनी ओर से न कह कर आचार्य दयानन्द के पश्चात् वेदार्थ के मौलिक नियमों वा सिद्धान्तों का तत्त्वदर्शी-गम्भीर विचारक-अपूर्व मेधावान्-महातपस्वी स्वर्गीय महात्मा अरविन्द (पाण्डीचेरी) के शब्दों में देते हैं—

(१) 'सायण का भाष्य वेद पर मौलिक तथा सजीव तथा पाण्डित्य-पूर्ण कार्य के उस युग को समाप्त करता है, जिसका प्रारम्भ अन्य महत्त्व-पूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थों के साथ में यास्क के निरुक्त को कहा जा सकता ·· ···वेद के बाह्य अर्थ के लिये भी यह सम्भव नहीं है कि सायण की प्रणाली का या उसके परिणामों का विना बड़े से बड़े संकोच के अनुसरण

किया जाय ।...वह वहुधा अपने परिणामों पर पहुंचने के लिये सामान्य वैदिक परिभाषाओं की और नियत वैदिक सूत्रों तक की अपनी व्याख्या में आश्चर्य-जनक असंगति दिखाता है ।' (वेदरहस्य पृ० २४, २५)

(२) 'सायण की प्रणाली की केन्द्रीय त्रुटि यह है कि वह सदा कर्मकाण्ड विधि में ही ग्रस्त रहता है और निरंतर वेद के आशय को बलपूर्वक कर्मकाण्ड के संकुचित सांचे में डालकर वैसा ही रूप देने का यत्न करता है परिणामत: सायणभाष्य द्वारा ऋषियों का, उनके विचारों का, उनकी संस्कृति का, उनकी अभीप्साओं का, ऐसा प्रतिनिधित्व हुआ है जो इतना संकुचित और दारिद्रयोपहत है कि यदि उसे स्वीकार कर लिया जाये तो वह वेद के सम्वन्ध में प्राचीन पूजाभाव को, इसकी पवित्र प्रामाणिकता को, इसकी दिव्य ख्याति को विल्कुल अबुद्धिगम्य कर देता है या उसे इस रूप में रखता है कि इसकी व्याख्या केवलमात्र यही हो सकती है कि उस श्रद्धा की एक अन्धी और विना ननुनच किये मानी गई परम्परा है, जिस श्रद्धा का प्रारम्भ एक मौलिक भूल से हुआ है ।' (पृ० २६)

(३) 'वेद के सब सम्भव अर्थों में से इस (कर्मकाण्डमय) निम्नतर अर्थ के साथ ही वेद को अन्तिम तौर पर और प्रामाणिकतया बांध देना, यह है जो कि सायण के भाष्य का सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम हुआ......सायण के भाष्य ने पुरानी मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी ..(पृ० २९)।' 'योरोप के वैदिक पाण्डित्य ने वस्तुतः सब जगह अपने आपको सायण के भाष्य में रखे हुए परम्परागत तत्त्वों पर ही अवलम्बित रखा है ।' (पृ० ३०)

(४) 'वेद के विषय में आधुनिक सिद्धान्त इस विचार से प्रारम्भ होता है, जिसके लिए सायण उत्तरदायी है कि वेद एक ऐसे आदिम जङ्गली और अत्यधिक बर्बर समाज की सूक्तिसंहिता हैं, जिसके नैत्यिक तथा धार्मिक विचार असंस्कृत थे, जिसकी सामाजिक रचना असभ्य थी और अपने चारों ओर के विषय में जिसका दृष्टिकोण वच्चों का सा था' (वेदरहस्य पृ० ३१) ।

(५) 'while western scholarship extending the hints of Sayana seemed to have classed it for ever as a ritual liturgy to Nature Gods, the genius of the race looking

through the eyes of Dayanand pierced behind the error of many centuries and again the intuition of a timeless revelation and divine truth given to humanity.' (Dayanand and Veda by Arvind P. 12)

(६) 'तीसरी भारतीय सहायता, तिथि में अपेक्षया कुछ पुरानी है, परन्तु मेरे वर्त्तमान प्रयोजन के अधिक नजदीक है। यह है वेद को फिर से एक सजीव धर्मपुस्तक के रूप में स्थापित करने के लिये आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के द्वारा किया गया अपूर्व प्रयत्न। दयानन्द ने पुरातन भारतीय भाषा-विज्ञान के स्वतन्त्र प्रयोग को अपना आधार बनाया, जिसे कि उसने निरुक्त में पाया था। स्वयं एक संस्कृत का महा-विद्वान् होते हुये, उसने उसके पास जो सामग्री थी, उस पर अद्भुत शक्ति और स्वाधीनता के साथ विचार किया। विशेषकर प्राचीन संस्कृत भाषा के अपने उस विशिष्ट तत्त्व का उसने रचनात्मक प्रयोग किया, जो कि सायण के 'धातुओं की अनेकार्थता' इस एक वाक्यांश से बहुत अच्छी तरह से प्रकट हो जाता है। हम देखेंगे कि इस तत्त्व का, इस मूल सूत्र का ठीक-ठीक अनुसरण वैदिक ऋषियों की निराली प्रणाली समझने के लिये बहुत अधिक महत्त्व रखता है (पृ० ४१)॥

......दयानन्द ने ऋषियों का भाषासम्बन्धी रहस्य का मूल सूत्र हमें पकड़ा दिया है, और वैदिक धर्म के एक केन्द्रभूत विचार पर फिर से बल दिया है, इस विचार पर कि जगत् में एक ही देव की सत्ता है, और भिन्न-भिन्न देवता अनेक नामों और रूपों से एक देव की ही अनेकरूपता को प्रकट करते हैं।' (वेदरहस्य भाग १ पृ० ४३)।

(७) 'दयानन्द के वेदभाष्य के सम्बन्ध में अनेक शंकायें की जाती हैं ... मैं दयानन्द के भाष्य के आधाररूप उन प्रसिद्ध नियमों का उल्लेख करूंगा, जो मुझे समझ आये हैं। सायणभाष्य को ठीक समझनेवाले दया-नन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। महाविद्वान् सायण का भाष्य ऊपर से महत्त्ववाला दिखाई देता हुआ भी वेद का यथार्थ और सीधा अर्थ नहीं है। पाश्चात्य विद्वान् भी दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। उनका परिश्रम, शुभेच्छा, अनुसन्धान शक्ति से एक शताब्दी में किया गया अर्थ भी ठीक अर्थ नहीं। क्योंकि इसमें पूर्वापरसम्बन्ध का अभाव है और सन्दिग्ध विषयों को प्रमाणभूत मानकर अर्थ किया गया है।

वेदार्थ तो वेद से ही होना चाहिये। इस विषय में दयानन्द सरस्वती का विचार सुस्पष्ट है, उसकी आधारशिला अभेद्य है। वेद के सूक्त भिन्न-भिन्न नामों से एक ईश्वर को ही सम्बोधन करके गाये गए हैं। विप्र अर्थात् ऋषि एक परमात्मा को ही अग्नि, इन्द्र, यम, मातरिश्वा और वायु आदि नामों से बहुत प्रकार से कहते हैं। वैदिक ऋषि अपने धर्म के विषय में मैक्समूलर या राथ की अपेक्षा अधिक जानते थे। अतः वेद स्पष्ट कहता है कि एक ईश्वर के ही अनेक नाम हैं।

हम जानते हैं, आधुनिक विद्वान् किस प्रकार इस बात को खींचतान करके उलटते हैं। वे कहते हैं, यह सूक्त नए काल का है। ऐसा ऊंचा विचार बहुत प्राचीन आर्य लोगों के मन में नहीं आ सकता था। इसके विपरीत हम देखते हैं कि वेद में सूक्तों पर सूक्त इसी भाव को बताते हैं। अग्नि में ही सब दूसरी दैवी शक्तियां हैं, इत्यादि। देवताओं के ऐसे विशेषण हैं, जो सिवाय ईश्वर के और किसी के हो नहीं सकते। पाश्चात्य इस बात से घबराते हैं। अहो वेद का ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिये, निस्संदेह ऐसे अर्थ से उनका चिरकाल से प्राप्त विचार हटता है। अतः सत्य को छिपाना चाहिये। मैं पूछता हूं, इस बात में इस मौलिक बात में दयानन्द सरस्वती वेद का सीधा अर्थ करता है या पाश्चात्य विद्वान्।

इस एक के समझने से, दयानन्द के इस मौलिक सिद्धान्त के मानने से, नहीं, वैदिक ऋषियों के इस विश्वास के जानने से कि सब देवता एक महान् आत्मा के नाम हैं, हम वेद का वास्तविक भाव जान लेते हैं। बस वेद का वही तात्पर्य निकलता है, जो दयानन्द सरस्वती ने इससे निकाला। केवल याज्ञिक अर्थ, या सायण का बहुदेवतावाद आदि का अर्थ भस्मीभूत हो जाता है। पाश्चात्यों का केवल अन्तरिक्ष आदि लोकों के देवताओं के सम्बन्ध में किया हुआ अर्थ मलियामेट हो जाता है। इन के स्थान में वेद एक वास्तविक धर्मग्रन्थ, संसार का एक पवित्र पुस्तक और एक श्रेष्ठ और उच्च धर्म का दैवी शब्द हो जाता है।' (वैदिक मैगजीन लाहौर १९१६, श्री अरविन्द के लेख का भाषानुवाद)।

सायण तथा तदनुवर्त्ती भाष्यकारों तथा आचार्य दयानन्द का तथा आध्यात्मिक अर्थ प्रतिपादक अन्य आचार्यों के किये ऋग्वेद के इस पूर्वोक्त प्रथम मन्त्र का अर्थ दर्शा देने तथा स्वर्गीय महात्मा योगी अरविन्द की सायण तथा दयानन्द के वेदार्थ विषयक स्पष्ट धारणा, विचार वा निष्पक्ष घोषणा के कुछ आंशिक उद्धरण उपस्थित कर देने

पर, अब हमें सायण और दयानन्द भाष्य की तुलना वा अधिक विवेचना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उक्त महायोगी अरविन्द का वेद-विषयक विचार वेदाभ्यासियों के लिये अत्यन्त माननीय और उपादेय है।

योरुपीय वैदिक विद्वानों की दृष्टि में सायणभाष्य

योरुपीय वैदिक विद्वान् सभी सायण के पीछे चले, सो बात नहीं। कुछ पीछे चले, कुछ नहीं चले। इस विषय में उक्त विद्वानों के विचार हम उपस्थित करते हैं—

(1) prof. Roth-the author of the Vedic portion of the great St. Petersburg Lexicon, says—'we do not believe like H. H. Wilson, that Sayana understood the expression of Vedas better than any European interpreter, but We think that a conscentious European interpreter may understand the Vedas far better and more correctly than Sayana' (J. Muir, on the interpretations of the Vedas).

अर्थात्—'हम एच० एच० विलसन महोदय के समान यह नहीं मानते कि सायण ने वेद के अर्थ को किसी भी योरोपीय अनुवादक से अधिक समझा है, अपितु हम यह समझते हैं कि सायण की अपेक्षा निष्पक्ष योरोपीयन अनुवादक वेदों को सम्भवतः अधिक अच्छे प्रकार से और अधिक ठीक-ठीक समझ सकता है'।

(2) Prof Benfy says—'But quite irrespectively of all particular aids, the Indian method of interpretation becomes in its whole essence an entirely false one, owing to the projudice with which it chooses to concieve the ancient circumstances and ideas' Ibid.

अर्थात्—'परन्तु उन समस्त विशिष्ट सहायताओं[1] (सहायक साम-

---

१. अर्थात् इन टीकाओं में ऐसी बहुत सी सामग्री है, जिससे वेद के अभ्यासी को बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। इन टीकाओं में सामग्री बहुत कुछ है। ले०

ग्रियों) को सर्वथा ध्यान में न लेकर, जो अर्थ करने की भारतीय पद्धति है, वह अपने पूरे निष्कर्ष में सर्वथा मिथ्या हो जाती है, उस पक्षपात के कारण जिसके साथ यह प्राचीन परिस्थितियों और विचारों को मन में लाने के लिये प्रयोग में लाती है वा मन में चित्रित करती है।'

(3) Prof. Goldstucker says—'Without the vast information which those commentators have disclosed to us without their method of explaining the obscurest text, in one word, without their scholarship, we should still stand at the outer doors of Hindu antiquity.'

अर्थात् 'उस बड़ी भारी जानकारी के विना, जिसको इन टीकाकारों ने हमारे सामने खोलकर रख दिया है, दूसरे शब्दों में 'जो अत्यन्त अस्पष्ट या गूढ़ स्थलों की व्याख्या करने की उनकी जो पद्धति है, उसके विना, संक्षेप में उनकी विद्वत्ता के विना, हम हिन्दू पुरातत्त्व के बाहिरी द्वार पर ही अभी तक खड़े रहते हैं[1]।'

(4) Prof. E. B. Cowell in his preface to the edition of Wilson's Translationof Rigveda Sanhita says—

'Sayana's commentry will aways retain a value of its own—even its mistakes are often interesting. We are thankful to him for any real help.'

अर्थात् 'सायण का भाष्य अपना मूल्य (वा स्थान) सदा रखेगा, उस की अशुद्धियां भी बड़ी रोचक होती हैं। कोई भी वास्तविक सहायता हमको उनसे मिलती है, हम उनके अनुगृहीत हैं'।

(5) Prof. Maxmuller says—

'As the authors of Brahmans are blinded by theology, the authors of the still later Niruktas were deceived py etymological fictions, and both conspired to mislead by their authority later or more sensible commentator, such as Sayana. Where Sayana has no

---

१. टीकाकारों वा उक्त सामग्री की इसमें प्रशंसा की गई है। ले०

authority to mislead him, his commentary is at all events rational, but still his scholastic notions would not allow him to accept the free interpretation which comparative study of these venerable documents forces upon the unprejudiced author.'

अर्थात् 'जहां एक ओर ब्राह्मणों के निर्माता थ्यालोजों अर्थात् देवता-वाद या देवताविज्ञान से अति मात्रा में प्रभावित हैं, तदनुवर्त्ती निरुक्त-कार निर्वचन-विषयक कल्पनाओं से धोखे में रहे; और दोनों ने अपने से उत्तरकालीन या अपने से अधिक बुद्धिमान्, सायण जैसे टीकाकार को अपने प्रामाण्य से भ्रान्त करने में जाल फैला दिया (षड्यन्त्र रचा)। उन स्थलों में जहां सायण के सामने कोई प्रमाण उसको भ्रान्त करने के लिए नहीं है, वहां उसकी टीका सर्वथा युक्तियुक्त है। परन्तु तो भी भारतीय टीकाकारों की पारम्परिक धारणायें उस=सायण को उस स्व-तन्त्र व्याख्या को स्वीकार करने नहीं देतीं, जिसको निष्पक्ष ग्रन्थकार इन आदरणीय ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन के कारण मानने को विवश हो जाता है।'

अन्य योरोपीय विद्वान् जैसा कि वेबर, लुड्विग, ग्रासमैन, मोनियर विलियम, वालिस आदि किसी न किसी प्रकार आंशिक वा सर्वथा भिन्न-मति हैं। हमें यहां यह दर्शाना है कि योरोपीय विद्वान् यद्यपि प्राय: सायण के पीछे ही चले, पर स्वतन्त्रमति होने से उन्हें सायण की भूलों का भी ज्ञान हुआ, सायण का वेदार्थ सब को मान्य नहीं हुआ।

'अग्निमीडे' का विविध विनियोग

प्रसङ्गत: प्राप्त इस मन्त्र के विनियोग को दर्शाते हुए इसका विवेचन कर लेना भी अनुचित न होगा। इसका विविध शास्त्रोक्त विनियोग निम्न प्रकार है—

(१) 'अग्निमीडे पुरोहितम्०' इति संयाज्ये। तृतीयस्यां सामिधेन्या-ववाते प्रागुपोत्तमाया:……' (आश्वलायनश्रौतसूत्र २।१)।

(२) 'निधीयमाने गवां व्रतं यदग्निमीड इति' (लाट्यायन श्रौतसूत्र ४।१०।५)। 'गार्हपत्ये निधीयमानेऽग्नौ गवां व्रतं साम गायेत्, यदग्नि-मीडे इत्येतस्यामृच्युत्पन्नं तत: प्रणीयमाने वामदेव्यं गायेत्'(अग्निस्वामि-

भाष्य)। जब गार्हपत्य में अग्नि रखी जावे, तब इस मन्त्र पर सामगान करे।

(३) आश्वलायन गृह्यसूत्र (गार्ग्यनारायणी वृत्ति सहित) ३।५।५— 'अथ दधिसक्तु जुहोति।५। अग्निमीडे पुरोहितमित्येका'॥६॥

(ii) 'दधिमिश्रान् सक्तून् इत्यर्थः। मन्त्रानाह ॥५॥ एकाग्रहण कुषुम्भकादिवद्०।' वृत्तिः। दही से मिले सत्तू का होम करें॥

(४) 'अथ ह स्माह कौषितकिः। अग्निमीडे पुरोहितमित्येका' (शाङ्ख्यायन गृह्यसूत्र ४।५)

(ii) 'एका आहुतिः अग्निमीडे पुरोहितं' (ऋ० १।१।१) इत्यादि स्वाहाकारान्तपूर्व होम करें (गुजराती अनु०)।

(५) शाङ्ख्यायनश्रौतसूत्र ६।४।६ पृ० ६३। 'आग्नेयं गायत्रं ऋतुम्।……अग्निमीडे पुरोहितं।'

"ऋग्वेदस्य सूक्तस्य विधिं वक्ष्याम्यतः परम्।
यथा ऋषिर्मधुच्छन्दाः कर्मतेनाकरोत् पुरा॥
शिरसा धारयेदग्निं नियतः परिवत्सरम्।
चतुर्थप्राणकालीयो हुतशिष्टमदन् हविः॥
जुह्वन् त्रिरुपतिष्ठेत सत्यवादी दिने दिने।
व्रतकाले तु सम्प्राप्त आग्नेयं निर्वपेच्चरुम्॥"

—ऋग्विधान १।७६-८१॥

व्रतकाल में अग्निदेवता के चरु के निर्माण में इस मन्त्र का विनियोग कहा गया है।

(७) 'जपो वक्तव्य इत्याह—समाधुछन्दसा रुद्रागायत्री प्रणवान्विता। सप्तव्याहृतयश्चैव जप्याः पापविनाशनाः।' बोधायन धर्म सू० ६।१॥

यहां जप में इस मन्त्र का विनियोग कहा है।

(८) गोपथब्राह्मण—१।२९ पृ० १२—

'तस्माद् ब्रह्मवादिन ओङ्कारमादितः कुर्वन्ति अग्निमीडे पुरोहितं होतारं रत्नधातमम्' इत्येवमादिं कृत्वा ऋग्वेदमधीयते…॥ सोमपान में इस मन्त्र का विनियोग कहा है।

(९) ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता में इस मन्त्र का कोई विनियोग नहीं।

(१०) सायणभाष्य में—'तत्र अग्निमीडे' इति सूक्तं प्रातरनुवाके आग्नेये क्रतौ विनियुक्तम् स विनियोग आश्वलायनेन चतुर्थाध्यायस्य त्रयोदशे खण्डे सूत्रितः। तस्मिन् सूक्ते प्रथमाया ऋचो द्वितीयस्यां पवमानेष्टौ स्विष्टकृतो याज्यात्वेन विनियोगः। स च (आश्वलायन-श्रौते) द्वितीयाध्यायस्य प्रथमखण्डे सूत्रितः 'साह्वान् विश्वा अभियुजोऽग्निमीडे पुरोहितमिति संयाज्ये' इति । तथा संयाज्ये इत्युक्ते सौविष्टकृति प्रतीयात् (आश्व० श्रौ० २।१) इति परिभाषितत्वात् स्विष्टकृतसम्बन्धनिश्चयः ॥' १।१।१ भा० पृ० ३१ ॥

यहां केवल भौतिक यज्ञाग्नि में याज्या रूप में इस मन्त्र का विनियोग कहा है।

(११) दुर्ग (निरु० टी० ७।१५) पृ० ५९३—'आश्विने विनियोगः ॥'

(१२) तै० संहिता सायणभाष्य—४।३।१३।३—'अथ मरुद्भ्यः सन्तपनेभ्यो मध्यन्दिने चरुमित्यत्र प्रथमाज्यभागस्यानुवाक्यामाह' 'अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ।' माध्यन्दिन मरुत देवताओं के लिये प्रथम आज्य भाग की अनुवाक्या रूप में विनियोग किया है।

(१३) आनन्दतीर्थभाष्ये जयतीर्थ-टीका पृ० ३—'ऋगर्थश्च त्रिविधो भवति । एकस्तावत् प्रसिद्धाग्न्यादिरूपः, अपरस्तदन्तर्गतेश्वरलक्षणः, अन्योऽध्यात्मरूपः। तत् त्रितयपरं चेदं भाष्यम्। तत्राग्निमीड इत्याद्यामृचं व्याचक्षाणोऽग्निशब्दार्थं तावग्निर्वक्ति । अग्निशब्दोऽयमिति । अयमादितः प्रयुक्तोऽग्निशब्दोऽग्नेस्तदन्तर्गतहरेश्च बाह्ययज्ञे अध्यात्मं च हरेर्ज्ञानयज्ञे मुख्यामुख्यत्वाभ्यामग्र एवाशेषपूज्येभ्यः पूर्वमेवाभिपूज्यतामभिपूज्यत्वमाहेति सम्बन्धः।' यहां पर बाह्य (भौतिक) यज्ञ के साथ ज्ञानयज्ञ (प्रभुभक्ति) में इस मन्त्र का विनियोग दर्शाया है। अर्थात् बाह्य यज्ञ और ज्ञान यज्ञ में इस मन्त्र का विनियोग बताया गया है।

(१४) नरसिंहयति छलारी टी० पृ० ६—'सर्ववेदानां मुख्यतो भगवत्प्रतिपादकत्वस्यानुमानादिनोपपादितत्वेनैतच्चोद्यं परास्तमित्यर्थः। न च मन्त्राणां कर्मणि विनियोगादहृष्टार्थत्वादविवक्षितार्थत्वं देवताप्रकाशनरूपदृष्टार्थत्वे सम्भवत्यहृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्।' यहां मन्त्र

कर्म में विनियोग अदृष्टार्थं मानते हुए भी दृष्ट विष्णु प्रीति के निमित्त भक्तियोग में विनियोग किया है।

(१५) राघवेन्द्रयति मन्त्रार्थमञ्जरी पृ० ८—विनियोगो विष्णुप्रीतिद्वारा मोक्षे। अवान्तरविनियोगः कर्मणि।' मन्त्रार्थमञ्जरीकार ने इस मन्त्र का विनियोग विष्णुभक्ति द्वारा मोक्ष में किया है।

(१६) द्याद्विवेदी नीतिमञ्जरी पृ० ५—'अथ विनियोगः। प्रातरनुवाके आग्नेयक्रतौ। आग्नेयं गायत्रं क्रतुमुपप्रयन्तो अध्वरमग्निमीडे पुरोहितमिति सूत्रम् तथा अग्निष्टुतिः—अग्निमीडे पुरोहितमित्युन्नीयमानेभ्य इति। उपाकर्मणि होमे चाथ ह स्माह कौषीतकिरग्निमीडे पुरोहितमित्येकेति गृह्ये—शौनकेनोक्तमृग्विधाने।'

(१७) बृहद्-हारीत स्मृति पृ० ३२६, ३२७

'ऋग्वेदसंहितायां तु मण्डलानि दशक्रमात्।
एकैकमिष्टचा होतव्यं चरुणा पायसेन वा॥
घृतैर्वा तिलैर्वाऽपि बिल्वपत्रैरथापि वा।
अग्नीमीड इति पूर्वं मण्डलं प्रत्यृचं यजेत्॥

—बृ० हा० अ० १० श्लोक ६३, ६४॥ पृ० ३२८

(ii) अग्निमीड इत्यनुवाकेन सावित्र्या वैष्णवेन च।
सर्वैश्च वैष्णवैर्मन्त्रैः पृथगष्टोत्तरं शतम्॥

—अ० ११।२४८॥

हुत्वा वेदसमाप्ति जुहुयाद् देशिकोत्तमः।
ततो भद्रासने शिष्यमुपवेश्याभिषेचयेत्॥२४९॥
कुशोत्तरं समासीनमाचान्तं विनयान्वितम्।
अध्यापयेद् वैष्णवानि सूक्तानि विविधानि च'॥२५२॥

इन दो श्लोकों में सम्पूर्ण ऋग्वेद से यज्ञ करने का विधान है, दूसरे शब्दों में स्वाहाकारान्त याग का विधान और 'अग्निमीडे०' इस मन्त्र का स्वाहाकारान्त याग में विनियोग स्पष्ट है। अगले तीन श्लोकों में इस मन्त्र का विनियोग शिष्य को वेदाध्यापन में कहा गया है।

(१८) मैत्रायणीसंहिता (४।१०।५) याज्यानुवाक्या प्रकरण में 'अग्निमीडे पुरोहितम्' यह मन्त्र पढ़ा है।

(१९) काठकसंहिता २।१४ में भी पूर्ववत् पढ़ा है।

(२०) गुणविष्णु: (छान्दोग्यमन्त्रभाष्य पृ० ११६)—'अग्निमीडे० (ऋ० १।१।१) इति मन्त्रस्य विनियोगो ब्रह्मयज्ञे'। यहां सबसे भिन्न विनियोग कहा।

विनियोग पर एक दृष्टि

यहां यह भी ज्ञात रहे कि जहां ऋक्सर्वानुक्रमणी-बृहद्देवता में इसका विनियोग नहीं कहा, वहां स्कन्द स्वामी की निरुक्तटीका तथा स्कन्द-भाष्य में तथा वेङ्कटमाधव के ऋग्भाष्य और उसकी ऋग्वेदानुक्रमणी में भी इस मन्त्र का विनियोग नहीं बताया गया। इस मन्त्र का ही विनि-योग न दर्शाया हो सो बात नहीं, स्कन्द ने अपनी निरुक्तटीका और ऋग्वेदभाष्य में किसी भी मन्त्र का विनियोग नहीं लिखा, यह बड़े आश्चर्य और गम्भीर विचार की बात है। वेङ्कटमाधवभाष्य में भी विनियोग कहीं पर नहीं कहा गया है। हां, दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्त-टीका में प्राय: सब मन्त्रों का श्रौतसूत्रों में कहा विनियोग दिखाया है। यहाँ पर दुर्गाचार्य ने 'अग्निमीडे० (ऋ० सं० १।१।१) इति मधुच्छन्दस आर्षम् गायत्री। आश्विने विनियोग:' ऐसा लिखा है। यह विदित रहे कि इस मन्त्र का देवता अग्नि है और उपर्युक्त लगभग १६ विनियोग-प्रतिपादक ग्रन्थों में यह मन्त्र 'आग्नेय' अर्थात् 'अग्निदेवताक' यज्ञ में भिन्न-भिन्न प्रकरणों में विनियुक्त है, ऐसा कहा गया है। भला अग्नि-देवताक 'अग्निमीडे' इस मन्त्र में आश्विन कर्म में विनियोग हो ही कैसे सकता है? इस सब विवेचन से यह सिद्ध होता है कि विनियोग की वर्त्तमान कल्पना बहुत अर्वाचीन है, प्राचीन नहीं। श्रौतसूत्रकारों ने तत्तत् मन्त्र से यज्ञ-इष्टि-सोम आदि में जहां-जहां जिस-जिस प्रकरण में काम लिया, वह तो ठीक है। परन्तु सायण या तदनुवर्त्ती लोगों ने जो विनियोग का यह अर्थ समझ लिया कि इन मन्त्रों का अन्य विनियोग हो ही नहीं सकता, यह उनकी सर्वथा भूल है। हमारा कहना यह है कि जैसे मन्त्र के देवता सर्वानुक्रमणी आदि से भिन्न हैं और हो सकते हैं, इसी प्रकार वेदमन्त्रों का विनियोग भी विनियोक्ता के आधीन है। यदि मन्त्र का अर्थ उक्त क्रिया के साथ सङ्गत हो सकता है, तो उस मन्त्र का विनियोग उक्त क्रिया में अवश्य हो जायेगा। विनियोग की बहुत ऊंची और दृढ़ दीवार खड़ी करके सायण ने वेदार्थ को इतना संकुचित और दारिद्र्योपहत कर दिया कि यदि उसे स्वीकार किया जाये तो वह वेद

के सम्वन्ध में प्राचीन पूजाभाव को, इसकी पवित्र प्रामाणिकता को, इसकी दिव्य ख्याति को अबुद्धिपूर्ण बना देता है।

यदि इस पर कोई कहे कि "निरुक्त १।८ में 'ऋचां त्वः पोषमास्ते' (ऋ० १०।७१।११) इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे' ऐसा निरुक्त में पाठ है, विनियोग का अपलाप नहीं हो सकता है।" हमारा कहना है कि निरुक्त के इस स्थान पर विनियोग का अर्थ प्रयोगमात्र है, अर्थात् इस मन्त्र से ऋत्विजों के कर्मों, कौन क्या करे, केवल इस बात का निरूपण है। न कि इस मन्त्र को किसी यज्ञ यागादि में विनियुक्त किया गया है। श्रौतसूत्रों ने मन्त्रों को याज्ञिक प्रक्रिया में जहां-जहां लगाया है, अर्थात् जिन-जिन क्रियाओं में इन मन्त्रों द्वारा कार्य करने का विधान किया है, वह सब प्रमाणभूत अर्थात् माननेयोग्य है। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि इन मन्त्रों का श्रौतसूत्रों से भिन्न विनियोग नहीं हो सकता। हमारे उपर्युक्त निरूपण से स्पष्ट सिद्ध है कि श्रौत-सूत्रादि से अन्यत्र भी मन्त्रों का विनियोग हो सकता है।

विनियोगसम्बन्धी कुछ अन्य प्रमाण

ऋग्वेदभाष्य में सायणाचार्य ने प्रथम मण्डल में लगभग ४८ सूक्तों का विनियोग 'लैङ्गिक' वा 'स्मार्त्त' लिखा है। ऋ० १। सूक्त १५, १८ २०, ४२ आदि का 'विनियोगस्तु स्मार्त्तो द्रष्टव्यः' इत्यादि लिखा है। ऋ० १।२२, ३८, ४० आदि सूक्तों का 'सूक्तविनियोगो लैङ्गिकः' ऐसा लिखा है।

(२) बृहद्देवता (i) ७।११३ में—

"प्रशस्यते दशम्या तु विद्वानुत्तमया ऋचा।
यज्ञे ह्यृत्विजामाह विनियोगं च कर्मणाम्॥ ७।११३"

(ii) बृ० ८।७०—

इन्द्र इह्येति विश्वेषां उदित्यृत्विक् स्तुतिपरम्।
शक्तिप्रकाशनेनैषां विनियोगोऽत्र कीर्त्यते॥ ८।१०॥

इस से सिद्ध है कि बृहद्देवताकार के मत में यदि मन्त्रार्थ में शक्ति होगी, तभी वह मन्त्र उक्त कर्म में विनियुक्त हो सकेगा।

(३) लैङ्गिक विनियोग का स्वरूप—

(i) तत्र लिङ्गं नाम ऋगर्थः। सर्वानुक्रमणीवृत्तौ तथैवोक्तत्वात्। तेनोक्तज्ञाता तात्पर्यानुरोधेनकल्प्या इति यावत्।

(ii) "तात्पर्यं हि किंचित् साक्षात् क्वचिद् विनियोगवशात् तदनुगुणार्थकल्पनावगन्तव्यम्" ऋग्वेदकल्पद्रुम पृ० १३।१॥

(४) दुर्गटी० पृ० १२६—"तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येनार्थेन भवितव्यम्" इस सबसे भी यही सिद्ध होता है कि मन्त्रों का विनियोग अर्थाश्रित होता है, जहां भी उनका विनियोग होना सम्भव हो।

ऋषि दयानन्दकृत भाष्य की विशेषतायें

स्वर्गीय महात्मा अरविन्द के शब्दों में—"दयानन्द ने ऋषियों के भाषासम्बन्धी रहस्य का मूल सूत्र हमें पकड़ा दिया है और वैदिक धर्म के एक केन्द्रभूत विचार पर फिर से बल दिया है, इस विचार पर कि जगत् में एक ही[1] देव की सत्ता है और भिन्न-भिन्न देवता अनेक नामों और रूपों से उस एक देव की ही अनेकरूपता को प्रकट करते हैं"। जिस महान् दयानन्द ने वेदार्थ का पुनरुद्धार किया, और जो बात लिखी वह प्राचीन ऋषि-मुनियों के आधार पर लिखी, जिनके वेदभाष्य के साथ-साथ हम लगभग २० वेदभाष्यकारों का एक ही मन्त्र का अर्थ तथा लगभग २० ग्रन्थों में प्रतिपादित विनियोग हमने दर्शाया, और पाठकों ने देखा कि उस आचार्य दयानन्द ने वेदार्थ के विषय में सैकड़ों वर्ष के पश्चात् एक अपूर्व क्रान्ति की।

अब अन्त में हम आचार्यदयानन्द के भाष्य की विशेषतायें दर्शाते हैं—

(१) इस भाष्य में वेदों के अनादि होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन है।

(२) वेदों में लौकिक इतिहास का अभाव है।

(३) वेदों के शब्द यौगिक वा योगरूढ़ि हैं, रूढि नहीं, यह इस भाष्य की आधार शिला है। अग्नि आदि शब्दों से किस प्रकार परमात्मा का ग्रहण होता है, उस की विवेचना प्रथम मन्त्र के भाष्य में ही की गई है। जो प्रमाण इस अर्थ के समर्थन में प्रस्तुत किये गये हैं, वे देखने योग्य हैं। मानों प्रमाणों की एक माला बना दी है। ऋग्वेद से लेकर मनुस्मृति और मैत्रायणी उपनिषद् तक के प्रमाण इस माला की मणियां हैं।

(४) वाचकलुप्तोपमालङ्कार से अनेक मन्त्रों का भावार्थ खोला गया

---

(१) तुलना के लिये देखो निरु० ७।४ 'माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

है। अर्थात् उषा के समान स्त्री, मित्र के समान अध्यापक, वरुण के समान उपदेश आदि।

(५) आचार्य दयानन्द का सिद्धान्त है कि जहां उपासना का विषय है, वहां-वहां अग्नि आदि शब्दों से ईश्वर का अभिप्राय है। अन्यथा इन्हीं शब्दों से भौतिक पदार्थों का ग्रहण किया जा सकता है।

(६) कहीं-कहीं आचार्य दयानन्द ने शाकल्यादि से भिन्न पदपाठ माना है।

(७) मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को देवता माना। है 'माहाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते (निरु० ७।४)' के अनुसार ओङ्कार वा परमात्मा को सब मन्त्रों का देवता माना है। परमात्मा का त्याग किसी भी मन्त्र में नहीं हो सकता, ऐसा माना है।

(८) शतपथादि ब्राह्मण, निघण्टु निरुक्त, अष्टाध्यायी, तथा महा-भाष्य के प्रमाणों से यह भाष्य भरा पड़ा है।

(९) एक-एक शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं, जैसे इन्द्र के अर्थ परमात्मा, सूर्य, वायु, विद्वान्, राजा, जीवात्मा आदि किये गये हैं।

(१०) आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक (आधियाज्ञिक) तीनों प्रक्रियाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ होते हैं, यह माना है।

(११) अनेक स्थलों में वैदिक पदों के अर्थ वेदमन्त्रों के आधार पर किये गये हैं।

(१२) 'व्यत्यय' के सिद्धान्त को मानकर ही वेद के विषय में 'सर्व-ज्ञानमयो हि सः' 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' यह सिद्धान्त ठीक-ठीक प्रमाणित हो सकता है।

पाठक वृन्द ! वर्त्तमान युग में वेद का विद्यार्थी चाहे वह शास्त्री वा आचार्य हो, किसी कालेज में एम० ए० का छात्र वा प्रोफेसर वा डी० लिट् हो, आचार्य दयानन्द के भाष्य को पढ़े-विचारे विना वेदार्थ से सदा अन्धकार में रहेगा। यही दर्शाना हमारे इस लेख का प्रयोजन है। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' हमारी बुद्धियां निर्मल वा पक्षपातरहित हों !!!

[वेदवाणी, वर्ष ५, अङ्क २]